
इकाई 27 लोकतंत्र और विकास : एक मूल्यांकन

संरचना

- 27.1 प्रस्तावना
- 27.2 लोकतंत्र
 - 27.2.1 प्रक्रियात्मक लोकतंत्र (Procedural Democracy),
 - 27.2.2 सत्तावाचक लोकतंत्र (Substantive Democracy)
- 27.3 विकास
- 27.4 लोकतंत्र और विकास
- 27.5 सारांश
- 27.6 अभ्यास प्रश्न

27.1 प्रस्तावना

भारत में लोकतंत्र और विकास दोनों पर ही बातचीत अपने मूल्यांकन के विषय में दो परस्पर विरोधी बातों को दर्शाती है, यथा प्रथम, लोकतंत्र व विकास फलीभूत हुए हैं; और द्वितीय, उन्होंने निराशा किया है। यह बात तब लागू होती है जब उनसे एक-दूसरे पर अन्योन्याश्रित अथवा स्वतंत्र के रूप में व्यवहार किया जाता है, यानी, वे सुसंगत हैं अथवा नहीं। यह इकाई भारत में लोकतंत्र व विकास के मूल्यांकन का पर्यवलोकन दो भिन्न दृश्यघटनाओं के रूप में तथा साथ ही, एक-दूसरे के संबंध में भी प्रस्तुत करती है। भारत में लोकतंत्र के क्रम-विकास तथा विकास के प्रतिरूपों व रणनीतियों पर संक्षिप्त रूप से चर्चा करने, यह इकाई भारत में लोकतंत्र पर इसके प्रक्रियात्मक एवं सत्तावाचक, दोनों ही रूपों में, चर्चा करती है।

27.2 लोकतंत्र

स्वतंत्रता पश्चात् भारत ने शासन की एक लोकतांत्रिक प्रणाली अपनायी। भारत में लोकतंत्र की संस्थाएँ वस्तुएँ औपनिवेशिक शासन के दौरान ही पनपनी शुरू हो गई थीं। वे ब्रिटिश इण्डिया सरकार के विभिन्न कानूनों और भारत व इंग्लैण्ड में एक वर्ग-विशेष के भीतर माँग के फलस्वरूप ही जन्मे। लोकतांत्रिक प्रावधानों ने 1909, 1919 व 1935 के भारत सरकार अधिनियमों में अपना स्थान बना लिया। संविधान सभा के भीतर विचार-विमर्श होने के बाद, 1950 में भारत गणतांत्रिक संविधान के लागू होने के साथ ही स्वातंत्र्योत्तर भारत में लोकतंत्र लागू कर दिया गया।

भारत में सरकार का संसदीय स्वरूप चुना ताकि वह गाँधीवादी सिद्धांतों के आलोक में ग्राम-स्तरीय सरकार की तुलना में सार्वभौम वयस्क मताधिकार व आवधिक चुनाव के सिद्धांतों पर आधारित राष्ट्र-राज्य (आधुनिकता) का निर्माण कर सके।

लोकतंत्र का मूल्यांकन उसे इंगित करने अथवा मापने के लिए प्रयोग किए द्वारा निर्देशकों पर निर्भर करता है। लोकतंत्र के संबंध में निर्देशकों के मुख्यतः दो मॉडल हैं – एक संस्थागत, अल्पतम, प्रक्रियात्मक लोकतंत्र से संबंधित, दूसरा सत्तावाचक अथवा प्रभावी लोकतंत्र से संबंधित। पूर्ववर्ती मॉडल लोकतंत्र को लोकतंत्र की

संस्थाओं, राजनीतिक दलों व अन्य संघों व संगठनों, आवधिक चुनावों, सार्वभौम वयस्क मताधिकार, नेतृत्व, आदि के रूप में देखता है। परवर्ती मॉडल संस्थागत – प्रक्रियात्मक लोकतंत्र को लोकतंत्र का व्यापक संकेत नहीं मानता। चुनावी लोकतंत्र, दरअसल, न्यूनतम का समर्थक है, जोकि उन अनेक कारकों द्वारा भी इंगित होता है जो लोकतंत्र के प्रति हानिकर होते हैं।

यह इस बात से विरले ही ताल्लुक रखता है कि सामाजिक स्थान में चुनावों से परे क्या होता है। वैकल्पिक रूप से, सत्तावाचक लोकतंत्र की दृश्यघटना को अपने द्विपृथक्करण व प्रसरणों, पुनर्वितरणकारी न्याय, मानवीय क्षमताओं एवं हकदारियों (शिक्षा, स्वास्थ्य, आधारभूत ढाँचा, आदि), सामाजिक पूँजी – संबद्ध कारकों (आस्था, मूल्य, मानदण्ड), सभ्य समाज, मानवाधिकार व प्रतिष्ठानों, शासन (भागीदारी, उत्तरदायित्व, प्रभावकारिता, पारदर्शिता, आदि) के आलोक में देखता है। ये विकास के विषय में प्रासंगिक हैं जिस प्रकार विकास दूसरी ओर लोकतंत्र के विषय में प्रासंगिक है। भारत में लोकतंत्र विषयक बहस की प्रेरणा लोकतंत्र के अवस्थान्तर गमन, दृढीकरण व सघनीकरण के विषय में रही है। प्रथम दो मामले स्वातंत्र्योत्तर काल में लोकतंत्र के प्रथम दो दशकों के दौरान छाये रहे और लोकतंत्र का सघनीकरण अभी हाल ही की अवधि में एक ध्यानाकर्षण विषय के रूप में लिया गया है। विभिन्न पहचानों/नए सामाजिक आन्दोलनों का दावा – लोकतंत्रीकरण की प्रक्रिया, ने लोकतंत्र सघनीकरण परियोजना में योगदान दिया है। परन्तु यह मतभेदों का ध्यान रखते हुए विभिन्न समुदायों की भागीदारी पर निर्भर है। पाठांश 27.2.1 व 27.2.2 में हम भारत में प्रक्रियात्मक तथा सत्तावादी लोकतंत्र के विषय में पढ़ेंगे।

27.2.1 प्रक्रियात्मक लोकतंत्र (Procedural Democracy)

प्रक्रियात्मक लोकतंत्र के अनुपालक आमतौर पर यह मानते हैं कि भारत में लोकतंत्र सफल रहा है। इस मूल्यांकन के मापदण्ड हैं – भागीदारी और प्रतिस्पर्धा। ये भारत में चुनावों की प्रायिकता और चुनाव जीतने के लिए राजनीतिक बलों के बीच प्रतिस्पर्धा द्वारा दर्शाये जाते हैं। मतदान प्रतिशत और पार्टियों द्वारा पड़े हुए वोटों की गणना भागीदारी को दर्शाते हैं। इस उपगम्य के पक्षधर भारत में चुनावी राजनीति की इस सफलता के विषय में प्रफुल्ल हैं, जिसको लोकतंत्र की सफलता के व्यापक प्रतिमान के रूप में लिया जाता है। वे लोग जो लोकतंत्र की सफलता को चुनावों – भागीदारी और प्रतिस्पर्धा – की नज़र से देखते हैं, लोकतंत्र के मूल्यांकन के लिए सर्वेक्षण विधि अपनाते हैं। वे मतदान प्रतिशत और मत-प्रतिशत अथवा सांख्यिकी विधि प्रयोग – सहसंबंध, सहकारण या समाश्रयण विश्लेषण, की भाषा में प्रतिशत में प्रबल प्रवृत्तियों को उपलक्षित करते हैं। वे मतदान प्रतिशत और निर्वाचन क्षेत्र-विशेष में सामाजिक-आर्थिक आँकड़ों के साथ भागीदारी के बहुपरिवर्तनीय संबंध पर विचार करते हैं। इस आधार पर कि यह विश्लेषण सर्वेक्षण पर आधारित होता है, और किसी क्षेत्र-विशेष के सामाजिक-आर्थिक व राजनीतिक कारकों को ध्यान में रखता है, इसे पारिस्थितिक विश्लेषण भी कहा जाता है। तथापि, कुछ विद्वान जो सर्वेक्षण आधारित विश्लेषण को अपनाते हैं, यह महसूस करते हैं कि सर्वेक्षण विश्लेषण त्रुटियों से भरपूर होते हैं, और गुणवत्तात्मक आँकड़ों द्वारा समर्थित नहीं होते तथा चुनावों के बीच की अवधि के लिए आँकड़े भी प्रदान नहीं करते। स्वतंत्रता-पश्चात् प्रथम पंद्रह वर्षों के दौरान, कोठारी, एम. फ्रैण्डा, पॉल आर. ब्रास, फील्ड एवं मायरन वीनर जैसे विद्वानों ने चुनाव अध्ययन कराने के लिए सर्वेक्षण विधि अपनायी। सभी प्रकार के कारक – अपराध, जाति, धर्म, आदि – चुनावों में प्रभावी हो जाते हैं। सर्वेक्षण विधि को अनेक विद्वानों द्वारा आगे ले जाया गया, और गत दो दशकों के दौरान चुनाव-विश्लेषकों ने भी इसका प्रयोग किया।

प्रक्रियात्मक लोकतंत्र का उद्देश्य भारत में राष्ट्र-निर्माण में योगदान देना था। पूर्व दशकों में भारत में लोकतंत्र विषयक अध्ययनों का ध्यान इस बात की जाँच करने पर लगा था कि इसने सार्वभौम वयस्क मताधिकार और आवधिक चुनाव की पुरस्थापना के माध्यम से राष्ट्र-निर्माण, में किस प्रकार मदद की है। इसको आधुनिकीकरण सिद्धांत के रूप में जाना गया। आधुनिकीकरण सिद्धांत का दावा था कि विकासशील देश आधुनिकीकरण की प्रक्रिया से गुज़रे हैं – जिनका अन्तिम लक्ष्य स्थिर लोकतंत्र रहा; इसके साथ ही सामाजिक-आर्थिक

आधुनिकीकरण आया, यथा शहरीकरण, जनसंचार माध्यमों का प्रसार, शिक्षा, धन-सम्पत्ति तथा समानता। यह माना जाता है कि भारत में विकास लोकतंत्र को मजबूत करेगा और जाति, धर्म, आदि पर आधारित बँटवारे खत्म हो जाएँगे।

प्रक्रियात्मक लोकतंत्र की समीक्षा उन विद्वानों द्वारा प्रस्तुत की जाती है जो सत्तावाचक लोकतंत्र का अध्ययन करते हैं। उनके मतानुसार, यह लोकतंत्र को एक सीमित रूप में देखता है। चुनावी लोकतंत्र अल्पतम लोकतंत्र है। स्वतंत्र व निष्पक्ष चुनाव, सार्वभौम वयस्क मताधिकार, राजनीतिक दल, दबाव समूह और संविधान की उपलब्धता आदि लोकतंत्र के लिए पर्याप्त है शर्तें नहीं हैं, हालाँकि ये आवश्यक हैं (लोकतंत्र समाज में तलाशना पड़ता और उसे संस्थागत रीति से बाहर निकालना होता है। लोकतंत्र की इस वैकल्पिक दृष्टि को सत्तावाचक लोकतंत्र नाम दिया जा सकता है। बीथम ने एक "लोकतंत्रीकरण-संबंधी सामाजिक कार्यसूची" हेतु तर्क प्रस्तुत किया। लोकतंत्र को, चुनावों में भागीदारी एवं प्रतिस्पर्धा से परे, समाज की हकीकत में उतरना पड़ता है। फरीद जकारिया, हालाँकि, सत्तावाचक लोकतंत्र की इस दृष्टि से आलोचना करते हैं कि वह लोकतंत्र को अधिकारों की एक व्यापक शृंखला वाले "उत्तम शासन" सरीखी मानकी पारिभाषिकी की दृष्टि से देखते हैं; वह व्याख्यात्मक लोकतंत्र पर ध्यान नहीं देते।

27.2.2 सत्तावाचक लोकतंत्र (Substantive Democracy)

गत दो दशकों में, भारत में, सत्तावाचक लोकतंत्र को लोकतंत्र विषयक संलाप में एक महत्त्वपूर्ण स्थान मिला है। सत्तावाचक लोकतंत्र का मूल्यांकन भारत में राष्ट्र-निर्माण से संबंधित विषयों - धर्मनिरपेक्षता, कल्याणवाद एवं विकास - पर राज्य (लोकतंत्र के साथ) की भूमिका के संबंध में किए जाने का प्रयास किया जाता है; और भूमण्डलीकरण के संदर्भ में इन मुद्दों के विषय में राज्य की भूमिका के संबंध में भी। नीरजा जयाल का दावा है कि राज्य व लोकतंत्र के बीच संबंध के मतल्लिक दो प्रचार के तर्क हैं : एक, ऐसे प्रभावशाली राज्य के बिना, जो राज्य के सत्तावाद का सामना करने हेतु एक सशक्त सभ्य समाज होते हुए भी अपना अस्तित्व बनाए रख सकता है, कोई लोकतंत्र नहीं हो सकता। जयाल का तर्क है कि राज्य व समाज, दोनों लोकतंत्र की स्थापना के संबंध में एक-दूसरे के पूरक हैं। परन्तु नागरिकता-संबंधी सार्वभौम मापदण्डों के अभाव में अनन्यतावादी स्वार्थ लोकतंत्र की योजना का अपहरण कर सकते हैं। उनके मतानुसार भारतीय राज्य एक हस्तक्षेपवादी राज्य है जिसका भारी प्रयास विकासात्मक रहा है, न कि कल्याणकारी राज्य।

सभ्य समाज भी सत्तावाचक लोकतंत्र का एक अनिवार्य संघटक रहा है। भारत में सभ्य समाज विषयक दो दृष्टिकोण हैं। एक, वह उन मुद्दों पर ध्यान दिए बगैर, जो वे उठाते हैं, सभी संघों एवं सामूहिक कार्यों को सभ्य समाज के रूप में लेता है; दूसरा, केवल वे संघ जो सार्वभौमिक महत्त्व के हैं, न कि साम्प्रदायिक, उन मुद्दों को उठाते हैं, और जिनका आधार धर्मनिरपेक्ष/सार्वभौम है, सभ्य समाज माने जाते हैं। अभी हाल ही में हमारे देश में एक नई बहस ने जोर पकड़ा है : साम्यवादियों तथा उदारवादियों के बीच बहस, व्यक्तियों एवं समुदायों के बीच संबंध; उनके भीतर और उनके बीच।

एकात्म्य राजनीतिक का उदय - दलित, अन्य पिछड़े वर्ग, महिलाएँ, जनजातियाँ, नृजातीयता, पर्यावरणीय विषय, आदि - नए सामाजिक आन्दोलन - तथा उस संलाप की शक्तिहीनता ने, जो लोकतंत्र को चुनाव-संबंधी विशेषाधिकार देता है, सत्तावाचक लोकतंत्र विषयक ध्यान-केन्द्रण को आवश्यक बना दिया है। इसको राष्ट्र-राज्य के सामने एक चुनौती के साथ-साथ देश की लोकतांत्रिक विषयवस्तु में वृद्धि के रूप में भी लिया जाता है, इस समझ के साथ कि भारत अधिक लोकतांत्रिक होता जा रहा है, एक ऐसी स्थिति जो आशुतोष वाष्णीय पसंद करते हैं। राष्ट्र-राज्य परिप्रेक्ष्य की सर्वाधिक तीखी आलोचना उन विद्वानों के लेखों में मिलती है जो देश के उत्तर-पूर्वी भारत जैसी परिधियों को प्रतिनिधित्व करते हैं। संजीव बरुआ की पुस्तक इण्डियन अगोन्स्ट इटसैल्फ इसी पहलू का प्रतिनिधित्व करती है। यह बड़ी संख्या में इन मुद्दों के एक साथ उठने के साथ ही हुआ - शासन, सभ्य समाज, सामाजिक पूँजी, मानवाधिकार, आदि। इन सभी कारकों की विद्यमानता देश में

लोकतंत्र के अस्तित्व संबंधी एक संकेतक के रूप में ली जाती है। यहाँ भी कुछ विपरीत दृष्टिकोण हैं जो इन कारकों की अनुपस्थिति और उपस्थिति दोनों का सुझाव देते हैं।

73वें एवं 74वें संविधान संशोधनों के प्रभाव में आते ही, विकेन्द्रीकरण को लोकतंत्रीकृत कर दिया गया है और लोकतंत्र का कार्यक्षेत्र विस्तृत हो गया है ताकि उसमें महिलाएँ, अन्य पिछड़े वर्ग व तृणमूल स्तर के दलित आ सकें। इससे पूर्व प्रबल सामाजिक समूह ही पूरी तरह से स्थानीय स्व-शासन संबंधी संस्थाओं पर आधिपत्य रखते थे। इसने लोकतंत्र के उद्देश्य मात्र को ही समाप्त कर डाला। स्थानीय निकायों को 29 विषयों के हस्तांतरण ने लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण में मदद की थी। तथापि, लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण इस तथ्य के आलोक में अटकता है कि जनसंपर्क संस्थाओं के महिला सदस्यों के अनेक उदाहरण उनके परिवारों के पुरुष सदस्यों के अधिकार-प्राप्त प्रतिनिधि ही होते हैं। अपराध, पैसा, आदि की बढ़ती भूमिका ने स्थानीय स्तर के लोकतंत्र की विश्वसनीयता को नुकसान पहुँचाया है। तिस पर भी, जहाँ कहीं भी सार्वजनिक कार्य स्थानीय स्व-शासन की संस्थाओं के साथ पड़ा, स्थानीय स्व-शासन संस्थाओं ने लोकतांत्रिक रूप से काम किया है।

सामान्य तौर पर भारत में लोकतंत्र का मूल्यांकन राष्ट्रीय, राज्य अथवा जिला स्तर पर किया गया है और इन स्तरों पर लोकतंत्र की कार्यवाही परस्पर निरपेक्ष रही है। भारत में लोकतंत्र हेतु उपगम्य “ऊपर-से-नीचे” रहा है, न कि “नीचे-से-ऊपर”। अतुल कोहली ने, हालाँकि, अपनी पुस्तक, डिमोक्रेसी एण्ड डिसकॉन्टेक्ट : इण्डिया'ज़ क्राइसिस ऑफ़ गवर्नेबिलिटी में तीन स्तरों को लिया है।

ओ'डॉनेल जैसे विद्वानों ने लोकतंत्र (नागरिकता) के भीतर मतभेदों पर ध्यान दिए जाने की आवश्यकता पर बल दिया है। इस परम्परा का अनुसरण करते हुए, पैट्रिक हैलर ने लोकतंत्र का “विखण्डन” किया है ताकि भारत में “उसकी अवस्थाओं” पर दृष्टिपात कर सकें। केरल की तुलना बाकी देश से करते हुए, वह मत प्रस्तुत करते हैं कि शेष भारत के मुकाबले केरल में ज़्यादा लोकतंत्र है। “सुगठित सभ्य समाज” तथा एक “प्रभावशाली राज्य” की विद्यमानता से ही ऐसा संभव हुआ है। यहाँ प्रभावी/सत्तावाचक लोकतंत्र का संकेत शिक्षा, स्वास्थ्य एवं वितरणात्मक न्याय के क्षेत्रों में उन्नति, उनके निम्नस्थ समूहों तक विस्तार में मिलता है।

रजनी कोठारी के मतानुसार, स्वतंत्रता पश्चात् प्रथम दो दशकों में लोकतंत्र-निर्माण में भारतीय राज्य ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। उसने कल्याणकारी योजनाएँ तथा विकास कार्यक्रम चलाए हालाँकि तब यह एक औसत दर्जे का राज्य था, भारतीय लोकतंत्र, इस चरण के दौरान सभी हितों के समायोजन एवं मतैक्य गठन द्वारा सूचित किया गया। परन्तु 1970 के दशक से ही, खासकर भारत में आपात्स्थिति की घोषणा के साथ ही, कार्यपालिका ने सत्ता अपने हाथों में संकेन्द्रित कर ली। इसने राज्य की परिमितिता को हानि पहुँचाई। परिणामतः, कार्यपालिका ने लोकतांत्रिक संस्थाओं एवं निजीगत संस्थाओं को गुप्त रूप क्षति पहुँचाते हुए, लोकप्रियतावाद को सहारा लिया। राज्य ने प्रत्यक्षतः लोकतंत्र के खिलाफ काम करना शुरू कर दिया।

अतुल कोहली का दावा है कि भारतीय लोकतंत्र एक शासनीयता-संबंधी समस्या झेल रहा है। इसका संकेत निर्बल होती संस्थाओं एवं बढ़ती माँगों के बीच बढ़ते वियोजन द्वारा मिलता है। राजनीतिक दलों, नेताओं की विश्वसनीयता में कमी, और विभिन्न सामाजिक समूहों के अनुशासित राजनीतिक संघटन, तथा समाज के भीतर संघर्षों ने भारत में शासनीयता का संकट पैदा कर दिया है। राज्य के आभिजात वर्ग ने राजनीतिक अव्यवस्था – उपयुक्तता-संबंधी संकट की राजनीति में एक निर्णायक भूमिका अदा की है।

एल.आई. एवं एस.एच. रुडोल्फ ने भारत में लोकतंत्र के साथ भारतीय राज्य एवं राजनीतिक अर्थव्यवस्था के संबंध को पूरी तरह से समझने का प्रयास किया है। वे लोगों की लामबन्दी को माँग राज्य-व्यवस्था के शब्दों में, और राज्य की भूमिका को आदेश राज्य-व्यवस्था के शब्दों में विश्लेषित करते हैं। परन्तु राज्य-व्यवस्था के प्रकार – लोकतांत्रिक अथवा सत्तावादी तथा शासन-प्रणाली के प्रकार – माँग अथवा आदेश, के बीच कोई महत्वपूर्ण सहसंबंध नहीं है। राज्य-व्यवस्था की प्रकृति – चाहे वह माँग हो अथवा आदेश, अर्थव्यवस्था की प्रकृति पर निर्भर होती है, न कि शासन-प्रणाली की प्रकृति पर।

भारतीय लोकतंत्र की उत्तरजीविता ने कुछ पर्यवेक्षकों को विस्मय में डाला है, जिनके अनुसार यह तीसरी दुनिया की राजनीतिक प्रणालियों की एक "पहेली" अथवा "अपवाद" है; इसने अपनी उत्तरजीविता जाति, धर्म, भाषा, आदि की विविधता के आधार पर कायम रखी है, जो प्रायः हिंसा में फलित होती है। अरैण्ड लिजफर्ट इस 'पहेली' को एक मैत्रीपूर्ण व्याख्या प्रस्तुत कर स्पष्ट करती हैं। मैत्रीवाद का सिद्धांत इस आधार-वाक्य पर आधारित है कि एक बहु-नृजातीय समाज में, समाज के विभिन्न समूहों के बीच सत्ता का साझा होता है। किसी समाज में मैत्रीवाद चार शर्तों पर प्रासंगिक होता है : (1) गठबंधन सरकार जिसमें सभी नृजातीय समूहों का प्रतिनिधित्व होता है; (2) मैत्री समूहों की सांस्कृतिक स्वायत्तता; (3) राजनीति एवं नागरिक सेवाओं में उनका आनुपातिक प्रतिनिधित्व; और (4) अल्पसंख्यक अधिकारों एवं स्वायत्तता से संबंधित विषयों पर अल्पसंख्यक निषेधाधिकार। लिजफर्ट का दावा है कि कांग्रेस व्यवस्था की सफलता, गठबंधन सरकारें, संघवाद, रक्षात्मक विभेद-संबंधी सिद्धांत, एवं अल्पसंख्यकों के धार्मिक व सांस्कृतिक अधिकारों के सांवैधानिक प्रावधान, तथा राजनीति दबाव के माध्यम से अल्पसंख्यक निषेधाधिकार एक सांवैधानिक रीति से भारतीय लोकतंत्र की सफलता के संकेत हैं। भारतीय लोकतंत्र ने "सत्ता-बाँट प्रणाली" – जैसे कि ऑस्ट्रिया, नीदरलैण्ड्स, स्विट्ज़रलैण्ड, लैबनान व कुछ अन्य देशों में प्रचलित है, के सिद्धांतों पर अपनी उत्तरजीविता कायम रखी है।

इस प्रणाली में सभी प्रमुख समूह एक सांवैधानिक तरीके से सत्ता में साझा करते थे। यह प्रणाली स्वतंत्रतापश्चात् प्रथम दो दशकों के दौरान प्रचलित थी। लिजफर्ट, हालाँकि, स्वीकार करती हैं कि गत कुछ वर्षों के दौरान कांग्रेस व्यवस्था के पतन, और अल्पसंख्यकों पर आक्रमण व भाजपा के उदय के साथ, रुझान मैत्रीपूर्ण सिद्धांत के प्रति विरोध में ही रहे हैं। पॉल आर. ब्रास मैत्रीपूर्ण प्रतिमान की आलोचना करते हैं कि यह भारत के लिए कर्तव्य व्यवहार्य नहीं है। ऐसा आधुनिक इतिहास के साथ-साथ समसामयिक राजनीति के संदर्भ में भी है। यद्यपि विभिन्न समूहों को एक मैत्री अथवा गठबंधन तैयार करने के लिए साथ आना होता है, उनके आंतरिक व्यंग्यबाणों ने हमेशा मैत्री पर खतरा ही पैदा किया है।

27.3 विकास

विकास लोकतंत्र एवं सामाजिक परिवर्तन विषयक चर्चा में एक पुनरावर्तक विषय है। यह संकल्पना एक ओर मुख्यतः समाजशास्त्रियों एवं राजनीति-वैज्ञानिकों द्वारा अपनायी गई है, और दूसरी ओर अर्थशास्त्रियों द्वारा। समाजशास्त्री एवं राजनीति-वैज्ञानिक इसका एक आधुनिकीकरण प्रतिमान के रूप में प्रयोग करते हैं, जो औपनिवेशिक कौम से आज़ाद हुए, विकासशील देशों में राजनीतिक एवं सामाजिक परिवर्तन पर चर्चा हेतु लोकप्रिय हो गया। इन परिवर्तनों को विकास एवं आधुनिकीकरण के रूप में लिया गया, जिन्होंने राष्ट्र-निर्माण अथवा राष्ट्र-राज्य निर्माण प्रक्रिया, राजनीतिक संस्थाओं के गठन (राजनीतिक दल, हित समूह आदि), सार्वभौम वयस्क मताधिकार एवं आवधिक चुनाव के प्रचलितकरण, लिखित अथवा अलिखित संविधान तथा शहरीकरण के स्तर की ओर संकेत किया। आचरणात्मकवाद द्वारा प्रभावित, आधुनिकीकरण अथवा विकास सिद्धांत मुख्यतः इस प्रश्न से जुड़े थे कि व्यवस्था के विभिन्न संघटकों को समायोजित कर कोई प्रणाली स्वयं को किस प्रकार कायम रखे। इसने परिवर्तन की संभावना अथवा अपने भीतर ही चुनौती के चलते व्यवस्था-भंग संबंधी कोई गुंजाइश नहीं छोड़ी।

अर्थशास्त्रियों के अनुसार, विकास का अर्थ था प्रति व्यक्ति आय तथा सकल राष्ट्रीय उत्पाद के लिहाज से वृद्धि। विकास के आधुनिकीकरण सिद्धांत ने उपरोक्तलिखित कारकों से परे, प्रति व्यक्ति आय तथा सकल-राष्ट्रीय-उत्पाद सूचकांक पर भी ध्यान दिया।

अमर्त्यसेन ने विकास का एक वैकल्पिक प्रतिमान प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार, प्रति व्यक्ति आय एवं सकल राष्ट्रीय उत्पाद महत्त्वपूर्ण तो हैं परन्तु विकास के पर्याप्त सूचकांक नहीं। सच्चे अर्थों में विकास का मतलब है

लोगों के बीच मानवीय क्षमताओं को विकसित करना तथा शिक्षा, स्वास्थ्य, आधारभूत ढाँचा और स्वतंत्रता के लिहाज से हकदारियाँ।

27.4 लोकतंत्र और विकास

लोकतंत्र एवं विकास के बीच संबंध विषयक बहस दो सवाल उठाती है : क्या वे एक-दूसरे के प्रति सुसंगत हैं? अथवा वे एक-दूसरे के विरोधी हैं? नीरजा जयाल का दावा है कि भारत में यह बहस "कुछ-कुछ गलतफहमी की शिकार" रही है। इसमें मूल रूप से अर्थशास्त्रियों द्वारा उलझाया गया है। दीपक नय्यर का दावा है कि भारत में आर्थिक विकास तथा राजनीतिक लोकतंत्र के बीच तनाव रहा है। लोग, खासकर गरीब, लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं में शामिल हैं परन्तु उन्हें पण्यक्षेत्र से बाहर कर दिया गया है। बाज़ार में आभिजात्यों का अनन्य प्राबल्य ही देखा गया। राज्य मुख्यतः आभिजात वर्ग के हितों/विवादों के प्रबंधन से ही संबद्ध रहा है। स्वातंत्र्योत्तर काल में राज्य की भूमिका की तुलना में विवादों का प्रबंधन और लोगों, खाकर गरीब, के हितों की दिशा में तीन चरण पूरे हुए – 1947, 1966, 1990, एवं 1990 के उपरांत। प्रथम चरण की पहचान थी राज्य की प्रमुख भूमिका जो विभिन्न हितों की सर्वसम्मति प्राप्त करने में समर्थ था। दूसरे चरण में, राज्य की प्रभावकारिता एवं मतैक्य प्रतिमान में कोई कमी नहीं थी। राज्य ने धनी किसानों को संयोजित करने के राजनीतिक प्रयास किए, और विभिन्न वर्गों के हितों को साधने के लिए लोकप्रियतावाद एवं प्रश्रय का सहारा लिया। इस चरण में भी कुछ हद तक गरीबी में कमी देखी गई। उदारवाद के चरण के रूप में जाने जाने वाले तीसरे चरण की पहचान है राज्य की विश्वसनीयता में कमी और बाज़ार की बढ़ती भूमिका। यह उदारवाद की राजनीति के साथ-साथ ही हो रहा है। नय्यर के मतानुसार, भारत में पहली बार उदारीकरण का अर्थशास्त्र तथा सशक्तीकरण की राजनीति विपरीत दिशाओं में जा रहे हैं। लोगों के पास राजनीतिक अधिकार हैं परन्तु वे बाज़ार में भागीदारी नहीं कर सकते हैं क्योंकि उनके पास हकदारियों एवं क्षमताओं का अभाव है। विभिन्न हितों के बीच मध्यस्थता करने अथवा मेल-मिलाप कराने के लिए राज्य का कोई प्रयास नहीं है। ऐसी स्थिति में, जहाँ राज्य कोई प्रभावी एवं मध्यवर्ती भूमिका नहीं निभा सकता है, उनका सुझाव है कि सभ्य समाज हस्तक्षेप कर सकता है।

प्रणव वर्धन का तर्क है कि लोकतंत्र एवं विकास असंघेय हैं। भारत में मुख्य स्वाम्याधीन वर्ग हैं – औद्योगिक पूँजीपति वर्ग, धनी किसान और निजी क्षेत्र के व्यवसायी। उनके हित विवादग्रस्त हैं और राज्य उनके बीच एक मध्यस्थ की भूमिका निभाता है। साथ ही, "नीचे से हलचल" देखी जाती है – विभिन्न अलाभान्वित समूहों का दावा। उनके हितों तथा धन-सम्पन्न वर्गों के हितों के बीच विवाद है। विभिन्न समूहों के संघटन में एक सुधार-विरोधी प्रवृत्ति भी पायी जाती है। यह बात आर्थिक सुधारों के लिए माहौल खराब करती है। वे लोग जो लोकतंत्र एवं विकास की असंगतता के विषय में तर्क देते हैं, दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशों का संदर्भ देते हैं जहाँ वास्तविक विकास अलोकतांत्रिक राज्य-व्यवस्थाओं में ही हुआ है।

अमर्त्य सेन ने विकास एवं लोकतंत्र विषयक एक असंदिग्ध संदर्श प्रस्तुत किया है। वे असंगत नहीं है। जबकि लोकतंत्र एवं विकास एक-दूसरे के पूरक हैं। लोकतंत्र संभव है यदि समाज में लोगों के पास हकदारियाँ हों और वे ऐसी क्षमताएँ रखते हों जो उन्हें लोकतांत्रिक प्रक्रिया का हिस्सा बनने में मदद करती हैं। स्वतंत्रता, जो लोकतंत्र का एक अनिवार्य घटक है, विकास को लोगों की हकदारियों एवं क्षमताओं के लिहाज से बढ़ावा देती है। विकास लोकतंत्र के विषय में भी प्रासंगिक है।

27.5 सारांश

इस इकाई में हमने इस बात पर चर्चा की कि भारत में लोकतंत्र एवं विकास के मूल्यांकन विषयक दो परस्पर विरोधी दृष्टिकोण हैं – ये सफल हुए हैं और ये विफल हुए हैं। लोकतंत्र एवं विकास संबंधी मूल्यांकन इन दृश्यघटनाओं के अर्थ से ही संबंधित है। भारत के संबंध में चर्चित लोकतंत्र के दो प्रकार के प्रतिमान हैं – प्रक्रियात्मक एवं सत्तावाचक। पूर्वोक्त मुख्यतः लोकतंत्र एवं प्रक्रियाओं से संबंधित है। परवर्ती लोकतांत्रिक संस्थाओं एवं प्रक्रियाओं को सामाजिक जीवन – सभ्य समाज, अधिकार, आदि के संदर्भ में देखता है। प्रक्रियात्मक लोकतंत्र का अध्ययन कर रहे विद्वानों की प्रबल धारणा यह मानती है कि भारत में लोकतंत्र सफल रहा है, और वे लोग जो सत्तावाचक लोकतंत्र का अध्ययन करते हैं, सामान्यतौर पर भारत में लोकतंत्र को विफल मानते हैं। विकास को आधुनिक राजनीतिक संस्थाओं की नज़र से भी देखा जाता है; दूसरे, लोगों के वास्ते हकदारियों व क्षमताओं की उपलब्धता की नज़र से। विकास एवं लोकतंत्र की सुसंगतता के विषय में भी दो परस्पर विरोधी धारणाएँ देखी जाती हैं।

27.6 अभ्यास प्रश्न

- 1) भारत में लोकतंत्र के क्रम-विकास एवं विकास को स्पष्ट करें।
- 2) लोकतंत्र-संबंधी विभिन्न संकल्पनाओं पर चर्चा करें।
- 3) लोकतंत्र एवं विकास पर चल रही बहस का मूल्यांकन करें।
- 4) विकास की संकल्पना तथा लोकतंत्र से उसके संबंध को स्पष्ट करें।